आखर हिंदी पत्रिका; e-ISSN-2583-0597 खंड 3/अंक 3/जून 2023
Received:09/06/2023; Accepted:13/06/2023; Published:24/06/2023

साहित्य और सिनेमा के सरोकार - एक विवेचन

डॉ.अर्चना गौतम
सहायक निदेशक (रा.भा.)
भारतीय फ़िल्म और टेलीविज़न संस्थान, पुणे
मोबाइल – 9860588581

डॉ.अर्चना गौतम, **साहित्य और सिनेमा के सरोकार - एक विवेचन**, आखर हिंदी पत्रिका, खंड 3/अंक 3/जून 2023,(307-314)

केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिए।
उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए।

साहित्य का उद्देश्य राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त की उपर्युक्त पंक्तियों से स्पष्ट हो जाती है कि साहित्य का उद्देश्य केवल मनोरंजन करना नहीं होता है बल्कि समाज को एक नयी दिशा प्रदान करना है। साहित्य और सिनेमा के सरोकार पर चर्चा करने से पूर्व साहित्य और सिनेमा पर प्रकाश डालना समीचीन प्रतीत होता है।

साहित्य

साहित्य एक स्वतंत्र विधा है, जिसमें संगीत, नृत्य, बिम्ब, चित्र, वास्तु आदि का समावेश होता है। साहित्य को समाज की अनुकृति भी कहा जाता है। यह सर्वमान्य है कि साहित्यकार का साहित्यिक अंकुर समाज में ही अंकुरित होकर पोषित एवं फलित होता है। साहित्यकार अपने युग की परिस्थितियों से अछूता नहीं रह सकता है। ध्येयधर्मी और सामाजिक मूल्यों के प्रति समर्पित साहित्यकार स्वानुभूति के आधार पर ठोस तथ्यों, जीवन मूल्यों एवं आदर्शों को प्रस्तुत करता है। समाज के अन्य प्राणियों की अपेक्षा साहित्यकार अधिक संवेदनशील होता है। साहित्यकार युगद्रष्टा होने के साथ-साथ स्रष्टा भी होता है। वह अपने रचनात्मक दृष्टिकोण से युगीन समाज, परिवार, सामाजिक परिवेश ,जीवन पध्दति, समाज में प्रचलित परम्पराओं ,रीति- रिवाजों, मान्यताओं, विसंगतियों, कुरीतियों और विषमताओं का निरीक्षण कर अपनी रचना में उसका यथार्थ चित्रण करता है तथा जनमानस में नयी चेतना जागृत करने का भी कार्य करता है। तभी तो साहित्य को समाज का दर्पण कहा जाता है। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने साहित्य को 'ज्ञानराशि का संचित कोश' कहा है। [1]

वास्तव में लोक कल्याण के लिए ही साहित्य की सर्जना की जाती है । जो साहित्यकार समाज के प्रति जितना अधिक संवेदनशील होता है, उसका सामाजिक सरोकार उतना ही अधिक होता है ।

सिनेमा

जैसा कि हम सब जानते है कि जनसंचार माध्यमों में सिनेमा एक सशक्त माध्यम है। सिनेमा चाक्षुक और श्रव्य दोनों माध्यमों का मिला-जुला रूप है। सिनेमा सूक्ष्म से सूक्ष्म मानवीय संवेदनाओं, अनुभूतियौं और मानवीय व्यवहारों के विभिन्न पहलुओं को चित्रण शैली में चित्रित करता है । फिल्मों में निर्माताओं की कल्पना का समावेश होते हुए भी उनमें यथार्थ अर्थात जीवन की वास्तविकताओं का संस्पर्श अवश्यमेव होता है । यदि ऐसा न होता तो दर्शक वर्ग फ़िल्मों से न जुड़ पाता । जैसा कि विदित है कि सिनेमा में जीवन को शब्दों के माध्यम से नहीं वरन शब्दों और दृश्यों के माध्यम से ग्रहण करते हैं । फ़िल्म निर्माता सत्यजीत रे के शब्दों में- "फ़िल्म छवि है, फ़िल्म शब्द है, फ़िल्म गति है, फ़िल्म नाटक है, फ़िल्म कहानी है, फ़िल्म संगीत है,- फ़िल्म में मुश्किल से एक मिनट का टुकड़ा भी इन सब बातों को एक साथ दिखा सकता है " । [2] इसी प्रकार फ़िल्म निर्माता ऋत्विक घटक का कहना है कि " सिनेमा वस्तुतः व्यक्तिगत अभिव्यक्ति का विषय है (Film is basically , a matter of personal statement) [3] -- इससे आगे वे कहते है –फ़िल्म कोई फॉर्म नहीं है, बल्कि इस के भीतर कई फॉर्म होते हैं (Film is not a form, it has forms)" । [4]

विशेषतः फ़िल्म निर्माता भी समाज का घटक होता है । उसे भी समाज की परिस्थितियों एवं प्रवृतियाँ प्रभावित करती हैं । फ़िल्म निर्माता अपनी फिल्मों की प्रेरणा समाज में घटित घटनाओं, प्रचलित परम्पराओं और प्रेरक व्यक्तित्वों से ग्रहण करता है । साहित्यकार की भांति वह भी समाज के प्रति प्रतिबद्ध होता है । माध्यम भिन्न होने पर भी समाज के बिना दोनों के अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती । फ़िल्म निर्देशक ऋत्विक घटक के अनुसार " फिल्मों में मानव जीवन के सुखद एवं दुःखद भावों को साकार करना ही मेरा उद्देश्य है । मैंने अपनी फिल्मों में अपने देश के लोगों की पीड़ाओं एवं दर्द को अपनी समस्त क्षमताओं के साथ चित्रित किया है । उसमें ईमानदारी की कहीं कोई भी कमी नहीं है।" [5]

यहाँ उल्लेखनीय है कि सिनेमा और साहित्य के सरोकार लगभग एक जैसे है, किंतु प्रस्तुति के ढंग अलग-अलग है । साहित्यकार सृजन कर पाठकों पर छोड़ देता है और पाठक अपनी बौद्धिकता और ग्राह्य क्षमता से चिंतन कर कृति में वर्णित बातों, संदेशो और उद्देश्यों आदि को ग्रहण करता है और आनंद उठाता है। फ़िल्म निर्माता अपने पात्रों के माध्यम से प्रत्यक्ष रुप में संदेश देता है कि जो बुरा काम करता है तो उसका परिणाम भी बुरा ही होता है । साहित्यकार की भाँति फ़िल्मकार दर्शकों के सम्मुख एक सजीव एवं साकार समाज स्थापित कर देता है ।

साहित्य और सिनेमा के सरोकार

साहित्य और सिनेमा का जन्म और विकास समाज में ही संभव है । साहित्य समाज में परिवर्तन लाने की क्षमता रखता है तो सिनेमा भी समाज में जागरूकता लाने की शक्ति विद्यमान है । अर्थात साहित्य और सिनेमा का समाज से घनिष्ठ संबंध है । सिनेमा का आधार साहित्य अर्थात कहानी, पात्र, संवाद घटनाएँ आदि और इन सभी साहित्यिक अंगों का आधार समाज है । फ़िल्मकार जब फ़िल्म बनाएगा तो उसे साहित्य यानि कहानी की आवश्यकता होती है और यदि कहानी है तो उसमें पात्र होंगे, उनसे संबद्ध घटनाएँ होगी, संवाद होंगे और बनाने की प्रक्रिया तक उसमें अन्य कलाएं जुड़ती जाएगी । सिनेमा को साहित्य और समाज से अलग करके नहीं देखा जा सकता । यदि किसी कहानी,पात्र,घटना आदि का आधार न होता तो सिनेमा का निर्माण करना कल्पनातीत होता । "अभिव्यक्ति के लिए अन्य कला में सिनेमा, साहित्य, चित्र कला, नाटक, गीत, संगीत, शिल्प और आधुनिक तकनीकी कला माध्यमों को अपने में समेटे हुए एक समग्र और विराट कला माध्यम है । दूसरे शब्दों में कहें कि सिनेमा ललित कलाओं का एक कोलाज है सिनेमा साहित्य के निकट है परंतु कथा प्रस्तुतीकरण के लिए भाषाई दृष्टिकोण से सिनेमा और साहित्य की शैली एक दूसरे से काफी भिन्न है । वस्तुतः सिनेमा साहित्य से अधिक नाटक के निकट है " । [6]

साहित्य और सिनेमा दो भिन्न-भिन्न विधा है, किंतु दोनों का उद्देश्य, समाज में व्याप्त बुराइयों तथा निगति तत्वों का विनाश कर एक सुंदर समाज का निर्माण करना है । समाज की समस्याओं की उलझी हुई गुत्थियों को सुलझाना ही सामाजिक सरोकार है । सामाजिक सरोकार साहित्यिक रचनाओं और फिल्मों में कई रूपों में प्रकट होता है । साहित्यकार और फ़िल्मकार की प्रतिक्रिया, दृष्टिकोण, सामाजिक व्यवस्था के प्रति उसकी भूमिका आदि रूपों में वे अपने सामाजिक सरोकार को अभिव्यक्त करते हैं । यह कार्य,प्रसंगों, पात्रों, टिप्पणियों के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है ।

यदि हम साहित्यकार के सरोकार की बात करें, तो पहले के उपन्यास, कहानियाँ अधिकांशतः कल्पना प्रधान लिखे गये । धीरे-धीरे वे युगीन समाज से जुडते गये और सामाजिक समस्याओं जैसे दहेज प्रथा, अनमेल विवाह, विधवा विवाह, नारी-शोषण, अंग्रेजों के प्रति घृणा, देशप्रेम, पाश्चात्य संस्कृति का अंधानुकरण और सांस्कृतिक समस्याएं आदि साहित्य के प्रतिपाद्य विषय बनें । इसी प्रकार सिनेमा के प्रारंभिक काल में फिल्मों के विषय पौराणिक एवं धार्मिक होते थे । दादासाहेब फालके ने राजा हरिश्चंद्र (1913), लंका दहन (1914), सीता स्वयंवर(1976), कालिया मर्दन(1919) जैसी मूक फिल्में बनाई , तत्पश्चात साहित्य की भांति सिनेमा भी समाज से जुड़ता गया और फ़िल्मकारों ने युगीन सामाजिक समस्याओं को फिल्मों के विषय बनाये । यह सत्य है कि फ़िल्म को देखने के लिए दर्शक को शारीरिक एवं मानसिक रूप से तैयार रहना पड़ता है । विशेषतः बाबू पेंढारकर, धीरेन गांगुली, देवकी बॉस, व्ही. शान्ताराम, बिमल राय, महबूब खान, राज कपूर, आदि फ़िल्मकारों की फिल्में गहरी मानवीय संवेदनाओं से परिपूर्ण है और उनमें सामाजिक समस्याओं को भी बड़ी स्पष्टता से उजागर किया गया है ।

साहित्य की भांति सिनेमा भी युगीन परिवर्तनों को स्वीकारते हुए समाज से जुड़ता गया और युगीन सामाजिक समस्याओं को फिल्मों के विषय बनाये । अमृत मंथन (1934) दुनिया न माने (1937), अछूत कन्या (1936), आदमी (1939), दो आँखें बारह हाथ (1937), धर्मात्मा (1935), आदि फिल्मों के माध्यम से फ़िल्म निर्माताओं ने अनमेल विवाह, जातीय संकीर्णता, हिंदू-मुस्लिम भेदभाव,विधवा विवाह, जैसे सामाजिक ज्वलंत विषयों को उठाया। फ़िल्म निर्माता व्ही. शांताराम की फिल्मों में सामाजिक उत्थान और मानवीय मूल्यों को बड़े हृदयस्पर्शी ढंग से उभरा जाता था, जिन्हें देखकर दर्शकों का मन पसीज जाता था और आँखें नम हो जाती थी। व्ही. शांताराम ने प्रभात फ़िल्म कंपनी और राजकमल फ़िल्म निर्माण संस्थाओं के माध्यम से अनेक समाज सुधार की मराठी और हिन्दी फिल्मों का निर्माण किया । इनकी "दो आंखे बारह हाथ" एक प्रयोगात्मक फ़िल्म थी, जिसमें अपराधियों को कालकोठरी में बन्द करने की अपेक्षा मुक्त ग्रामीण परिवेश में रखकर खेतीवाड़ी करवायी जाती है और कैदियों में मानवीय मूल्यों के प्रति आस्था उत्पन्न करने का प्रयास किया जाता है तथा समाज को संदेशात्मक रुप में अवगत करवाया जाता है कि मनुष्य में छुपी बुराई को समाप्त करना चाहिए न कि मनुष्य को । इस फ़िल्म के माध्यम से फ़िल्मकार समाज में संदेश संचारित करता है कि स्त्री की अपनी अस्मिता है, वह केवल भोग्य वस्तु और चरणों की दासी नहीं है । जाति संकीर्णता से समाज में उत्पन्न आक्रोश और असंतोष को सर्वप्रथम फिल्मों में ही अभिव्यक्ति प्रदान की ।

चौथे और पाँचवे दशक में बनी फिल्मों में व्ही. शान्ताराम की 'पडोसी' (1941), एस.मुखर्जी की 'किस्मत'(1943), महबूब खान की 'रोटी' (1942) आदि महत्वपूर्ण फिल्में हैं। इस दौर तक सिनेमा प्रगति की ओर कदम बढ़ा रहा था, कलात्मक दृष्टि से भी और वैचारिक स्तर पर भी।

जहाँ प्रेमचन्द ने अपनी रचनाओं में नारी और परिवार की समस्याओं के साथ-साथ समाज की विसंगतियों को सजीव चित्रांकन किया, वहीं व्ही. शांताराम जैसे फ़िल्म निर्माता ने" दुनिया न माने" फ़िल्म में अनमेल विवाह के कारण उत्पन्न दुःखद मनोभावों को दर्शाया है। इस फ़िल्म में बड़ी उम्र का विधुर कम उम्र की लड़की से विवाह करता है, जो उसे पति रूप में स्वीकार नहीं करती । वह इस सामाजिक अन्याय का विरोध करती है। अंत में बूढ़े पति को अपनी गलती का एहसास होता है और वह निर्मला को पुनः विवाह करने के लिए कहता है । थियेटर से निकलते समय दर्शकों के मन में यह प्रश्न अवश्य उठा होगा कि क्या निर्मला दोबारा विवाह कर लेगी ? इसी प्रकार "पड़ोसी" फ़िल्म में दो दोस्त एक हिंदू और दूसरा मुसलमान की दंगों के बीच दोस्ती की अग्निपरीक्षा को दर्शाया गया है । कहा जाता है कि "पड़ोसी" फ़िल्म देखने के पश्चात हिंदू और मुसलमान के झगड़े बंद हो गये थे। फ़िल्म को देखकर सांप्रदायिक दंगो का रुक जाना ही वास्तव में फ़िल्मकार की समाज के प्रति प्रतिबद्धता स्पष्ट रूप से चित्रित होती है। "दो बीघा जमीन" में बिमल राय (1953) ने एक गरीब किसान की दयनीय स्थिति को दर्शाया है, जो अपनी जमीन बचाने के लिए कलकत्ता जैसे शहर में मजदूरी करके पैसे कमाने जाता है। इस फ़िल्म में किसानों की दयनीय स्थिति का मार्मिक चित्रण किया गया है। इसी प्रकार बिमल राय द्वारा निर्देशित "सुजाता" (1959) में जातीय संकीर्णता को दर्शाया गया है । फ़िल्मकार अपने दायित्व का निर्वाह करते हुए फ़िल्म के माध्यम से समाज को संदेश देता या देने का प्रयास करता है कि जाति से

कोई बड़ा एवं छोटा नहीं होता है, उसके कार्य ही उसे छोटा एवं बड़ा बनाते है । महबूब खान की "मदर इंडिया" फ़िल्म में भी शोषक के क्रूर शोषण चक्र को दिखाया गया है।

स्वतन्त्रता से पूर्व फिल्मों के विषय स्वतन्त्रता संग्राम, देश को अंग्रेजी राज से मुक्त करवाना और देशभक्त वीरों के बलिदान की कथाओं और देश प्रेम की भावना जाग्रता करना आदि रहें। सिंकदर, पुकार, झाँसी की रानी, क्रांति जैसी महान फिल्मों का निर्माण किया गया। इस प्रकार कहा जा सकता है कि फ़िल्मकारों ने समाज की सच्ची तस्वीर दिखायी है। सिनेमा का उद्देश्य केवल मनोरंजन प्रदान करना नहीं है। बल्कि वह अपनी सरल और प्रभावशाली सम्प्रेषणीयता और मन मोहक अंदाज से समाज में नयी चेतना का संचार भी करता है। इस काल का सिनेमा पूर्णतः समाज के प्रतिबद्धता था, क्योंकि उसमें व्यावसायिकता का आगमन नहीं हुआ था।

इसी समय साहित्यकार के रुप में मुंशी प्रेमचन्द उभरे। प्रेमचंद ने अपनी रचनाओं में परिवार और नारी की समस्याओं के साथ-साथ सामाजिक समस्याओं का चित्रण किया है । प्रेमचंद के उपन्यासों जैसे सेवासदन, कर्मभूमि, गबन, गोदान जैसे उपन्यासों में सामाजिक समस्याओं और विसंगतियों को अभिव्यक्त किया गया। इतना ही नहीं प्रेमचंद युगीन साहित्य में मानवीय मूल्यों और मानवीय संबंधो के महत्व पर बल दिया गया। विश्वम्भरनाथ कौशिक के उपन्यास “माँ” में दिखाने का प्रयास किया है कि माँ के स्नेह, त्याग , विवेकपूर्ण देखरेख से ही बच्चे का विकास संभव है। विष्णु प्रभाकर के अर्धनारीश्वर में समाज के सभी वर्गों की यातनाओं पर गहर आत्मीयता से विचार किया गया है। झूठा सच (यशपाल), तमस (भीष्म साहनी), आधा गाँव (राही मासूस रजा) आदि रचनाओं में साम्प्रदायिकता की यथार्थ स्थिति का चित्रण हुआ हैं।

स्वतन्त्रता प्राप्ति की खुशी और स्वतन्त्रता के पश्चात उत्पन्न विकट स्थितियों के कारण संजोये हुए सपनों के चकनाचूर होने से उत्पन्न मोहभंग को साहित्य में रेखांकित किया गया। फ़िल्मकारों ने भी युगबोध को समझा और युगीन समस्याओं को फिल्मों का विषय बना कर समाज को जागृत किया। स्वतन्त्रता से पूर्व फ़िल्मकारों ने राष्ट्रीय भावना और देश प्रेम पर आधारित फ़िल्मों का निर्माण किया। उदाहरण के लिए आनंदमठ, जागृति, शहीद भगत सिंह, हकीकत, पूरब-पश्चिम, उपकार, सात हिंदुस्तानी, हिंदुस्तान की कसम, विजेता आदि फिल्मों को लिया जा सकता है। स्वतन्त्रता के पश्चात भारत के गांवों की बदलती स्थिति, जमींदार और सूदखोर बनियों के द्वारा छोटे किसानों का आर्थिक शोषण फिल्मों में दर्शाया गया। महबूब खान के द्वारा बनायी गयी फ़िल्म "मदर इंडिया" में नारी के साहस और सूदखोर द्वारा उस पर किये जाने वाले शोषण को दर्शाया गया है। राज कपूर की फिल्मों जैसे बूट पोलिश, जागते रहो, आवारा आदि में भी युगीन समस्याओं का बड़े प्रभावी ढंग से चित्रण हुआ है। इस दौर की जंजीर (1973), शोले (1974), दीवार (1975), शहंशाह (1988) , आदि महत्वपूर्ण व्यावसायिक फिल्में हैं। इन फिल्मों में युवाओं को खोखले सिस्टम के विरुध्द आवाज उठाता हुआ दिखाया गया है।

फ़िल्मकार अपनी फ़िल्म के माध्यम से मनोरंजन के साथ-साथ समाज में व्याप्त बुराइयों, विसंगतियों, अंतर्विरोधों को दर्शा कर नये समाज के लिए नये आयामों और नए विकल्पों को दर्शकों के सम्मुख प्रस्तुत करते हैं। समाज के प्रति फ़िल्मकार की प्रतिबद्धता ही सिनेमा का सरोकार है। जैसा कि हम सब जानते है कि अनेक साहित्यकारों ने सिनेमा उद्योग में अपना सिक्का आजमाने का प्रयास किया। उनमें से कुछ तो वापस लौट आये

और उन्होनें सिनेमा उद्योग की ओर मुड़कर नहीं देखा । कुछ साहित्यकार जैसे कमलेश्वर, गुलजार, शैलेंद्र, नीरज, हरिवंश राय बच्चन, रही मासूम रजा, जावेद अख्तर, कैफी आजमी, मनोहर श्याम जोशी आदि सिनेमा उद्योग से जुड़े रहे। इन साहित्यकारों ने फिल्मों की पटकथा और गीत लिखें।

फ़िल्मकारों ने भी साहित्यिक रचनाओं पर फ़िल्मों का निर्माण किया । दो बैलों की कथा, गोदान, चित्रलेखा, काबुलीवाला, देवदास, शतरंज के खिलाड़ी, गाइड, तीसरी कसम, यही सच है ,हजार चौरासी की माँ, सूरज का सातवाँ घोड़ा, साहिब, बीबी और गुलाम, रूदाली, नटरंग आदि कहानियों और उपन्यासों पर आधारित फिल्मों का निर्माण किया । फ़िल्मकारों के इस प्रकार के प्रयास से साहित्यिक रचनाएँ जन-जन तक पहुंची । इतना ही नहीं फ़िल्मकारों ने कलात्मक फ़िल्मों का निर्माण कर मनुष्य को उसके यथार्थ जीवन से पहचान करवायी । इन फिल्मों में नारी शोषण, आर्थिक विपन्नता, सामंती अत्याचार, शोषण, पुलिस और स्थानीय नेताओं की साँठ-गांठ और उनके अमानवीय व्यवहार के प्रति आवाज उठायी । अंकुर, मंडी, भूमिका, उसकी रोटी, आक्रोश, पिंजर, हजार चौरासी माँ, अल्बर्ट पिंटों को गुस्सा क्यों आता है, मिर्च मसाला आदि कलात्मक फिल्मों में व्यावसायिक चका चौंध के स्थान पर समाज के यथार्थ को उजागर किया गया है। सईद मिर्जा, केतन मेहता, मणि कौल, गोविंद निहलानी और श्याम बेनेगल आदि फ़िल्म निर्माताओं ने कलात्मक फिल्मों का निर्माण कर समाज के प्रति अपनी गहरी निष्ठा और प्रतिबद्धता को सिद्ध किया है।

साहित्यकार स्वांत सुखाय के लिए लिखने के साथ-साथ समाज के लिए भी लिखता है। इसी प्रकार फ़िल्मकार सामाजिक संदेश देने के साथ-ही मनोरंजन करने के लिए फ़िल्म का निर्माण करता है। जिस प्रकार मोती की आभा, सुंदरता और उसकी मूल्यवत्ता शीप के कोश द्वारा निर्मित होती है, उसी प्रकार साहित्य और सिनेमा की सार्थकता समाज में होती है। एक फ़िल्म की सफलता-असफलता समाज पर ही निर्भर करती है। साहित्यकारों ने भी मीडिया की समस्याओं को अपनी लेखनी के माध्यम से उजागर कर रहे है। जैसे– मुझे चाँद चाहिए (सुरेन्द्र वर्मा), जिसमें जीवन और कला के संघर्ष और कलाकारों के जीवन को अभिव्यक्त किया गया है। सही नाप के जूते (लता शर्मा) उपन्यास में नायिका की माँ उसे ग्लैमर की दुनिया में भेजने के लिए अथक प्रयास करती है। जमीन अपनी अपनी (चित्रा मुदगल) में विज्ञापन की दुनिया के सच को उजागर किया गया है। इसी प्रकार रंगी हुई चिड़ियाँ (धर्मेंद्र गुप्त) में एक महत्वाकांक्षी नारी का चित्रण किया गया है, जिसे ग्लैमर की दुनिया में प्रवेश तो मिल जाता है, पर प्रतिभा की कमी होने के कारण असफल रह जाती है । चांदनी बार,फैशन, हीरोइन जैसी फिल्मों में मीडिया में कार्य करने वाली लड़कियों की समस्याओं को समाज के सम्मुख प्रस्तुत किया । जैसा कि इससे पूर्व भी उल्लेख किया गया है कि साहित्यकार की भांति फ़िल्मकार में भी युगबोध की गहरी पैठ होती है। यही कारण है कि वह समाज की समसामयिक समस्याओं को अपनी फ़िल्म के लिए चुनता है । अव्यवस्था, आतंकवाद, आरक्षण और दलित समस्या आदि विषयों पर भी समय-समय पर फिल्में बनाई गयी। गंगाजल, ओमकारा, अग्निपथ, सत्याग्रह, वेल डन अब्बा, पीपली लाईव, गुलाब गैंग आदि फिल्मों में भ्रष्ट

व्यवस्था के विरुद्ध आवाज उठाई गयी है तथा यह दर्शाने का प्रयास किया गया है कि शोषक चाहे जितना भी शक्तिशाली क्यों न हों, वह समाज की कानून व्यवस्था से नहीं बच सकता है। मकबूल, बॉम्बे, रोजा, बेबी, ए वेन्ज़डे, हॉलिडे, उडता पंजाब, दहलीज,ब्लैक फ्राइडे, मुंबई का ताज और 26/11 आदि फिल्मों में आतंकवाद और उससे उत्पन्न त्रासदियों का बड़े मार्मिक ढंग से चित्रांकन किया गया है। प्रकाश झा की आरक्षण में शिक्षा नीति में बढते व्यावसायीकरण पर कटाक्ष किया गया है। आक्रोश,पार, बैंडिट क्वीन, रिवाज जैसी फिल्मों में दलितों की समस्याओं को उजागर किया गया। साहित्यकारों ने भी जूठन (ओमप्रकाश बाल्मीकि),छप्पर (जय प्रकाश कर्दम),जस तस भई सबेर (सत्यप्रकाश), दोहरा अभिशाप (कौसल्या बैसंत्री),अछूत(दया पवार) आदि रचनाओं में दलितों के अपमान,उनकी आर्थिक विपन्नता, विवशता और आभिजात्य वर्ग के द्वारा उनपर किये शोषण को दर्शाया गया है।

यदि हम आज के सिनेमा की बात करें, तो उसमें व्यावसायिकता का अधिक समावेश हो गया है। गंभीर से गंभीर विषय पर बनायी गयी फिल्मों में नाच-गानों के साथ-साथ बहुत अधिक तड़क-भड़क को दर्शाया जा रहा है, जो शायद इसकी अनिवार्यता है। फ़िल्मकार को अपनी फ़िल्म मनोरंजनात्मक ढंग से दर्शकों को दिखानी पड़ती है। यदि दर्शकों को फ़िल्म पसंद नहीं आयी तो उसे बहुत बड़ी आर्थिक हानि हो सकती है, फलतः फिल्मों को अधिक मनोरंजनात्मक बनाने के लिए वह कहीं संगीत का सहारा लेता है तो कहीं प्रकाश योजना का, तो कहीं ध्वनियों का और कल्पना का। फ़िल्म निर्माता विमल राय के विषय में कहा जाता है कि "उनकी फ़िल्म भाषा इतनी शांत और कोमल है कि वे बडी कठोर बात के लिए भी बहुत आसानी से दर्शक के भीतर हो कर गुजरने वाली सीधी राह बना देते है"।

सिनेमा पर आक्षेप लगाया जाता है कि सिनेमा ने भाषा को बिगाड़ दिया है। जिसमें किसी प्रकार के भाषीय संस्कार नहीं होते। किंतु यहाँ उल्लेख करना आवश्यक है कि फ़िल्मकार का मुख्य उद्देश्य अधिक से अधिक दर्शकों का मनोरंजन करना है , भाषा सीखाने का काम फ़िल्मकार का नहीं है। यही कारण है कि फ़िल्म निर्माता मिली-जुली भाषा का प्रयोग करते हैं जैसे - These Boys must realize that No का मतलब No होता है। उससे बोलने वाली कोई परिचित हो, दोस्त हो, गर्लफ्रेंड हो, कोई सेक्स वर्कर हो, या आपकी अपनी बीवी ही क्यों ना हो। No means no and when someone says no (फ़िल्म पिंक) , मैं अपनी छोरियों को इतना काबिल बना लूंगा के, छोरे उन्हें देखने नहीं वो छोरो नै देखण जाएगी । (दंगल)

भारतीय समाज में बढ़ते हुए अंग्रेजी के वर्चस्व को ध्यान में रखते हुए अंग्रेजी मीडियम और हिन्दी मीडियम जैसी फिल्मों का निर्माण किया गया। यद्यपि "फिल्मों की अपनी एक विशेष भाषा होती है जो विभिन्न दृश्यों को एक श्रृंखलाबद्ध रूप में देखने से समझ में स्वतः आ जाती है। हाँ इसमें संवादों, गीत- संगीत और पार्श्व संगीत की सहायता से बातें और अधिक स्पष्ट और प्रभावशाली हो जाती है -- फ़िल्म अपने में अपनी बातें कहने में हमेशा से एक अत्यंत शक्तिशाली और सक्षम माध्यम रहा है । जिस प्रकार हर भाषा का अपना एक व्याकरण होता है उसी प्रकार फ़िल्म की भाषा का भी अपना एक व्याकरण होता है, जिसे हम कैमरे के माध्यम से समझते हैं क्योंकि फ़िल्म मूलतः कैमरे की भाषा है। पर्दे पर वही दिखाया जाता है, जिसे कैमरे की

आँख ने पहले देखा है और रिकॉर्ड कर लिया है "।[7] अतः कहा जा सकता है कि सिनेमा और साहित्य दोनों भिन्न-भिन्न विधाएँ होते हुए भी एक-दूसरे की पूरक है, दोनों का अपना-अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है। यदि देखा जाए तो दोनों ही समाज को सुंदर बनाने का प्रयास करते हैं।

संदर्भ-

1 . निबन्ध चयनिका ,साहित्य की महत्ता ,महेन्द्र चतुर्वेदी पृ .सं 65
2 . भारतीय सिने सिध्दान्त अनुप म ओझा पृ. सं 37
3. घटक ऋत्विक ,सिनेमा एण्ड आई पृ . सं 13
4. घटक ऋत्विक ,सिनेमा एण्ड आई पृ . सं 13-14
5 . साहित्य और सिनेमा हरिश शर्मा पृ . सं 125
6 . भारतीय सिनेमा ,एक अनन्त यात्रा प्रसून जोशी पृ. सं 67-68
7. भारतीय सिनेमा ,एक अनन्त यात्रा प्रसून जोशी पृ. सं 67

****